नवतत्त्व

जैन दर्शन में पदार्थ या वस्तु को तत्त्व कहा गया है। लाक्षणिक अर्थ में वस्तु स्वरूप (तत् + व) होने का साथ 'सत् से युक्त तत्त्व के तीन लक्षण हैं– उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य।' अर्थात् उत्पत्ति, नाश एवं ध्रुव गुण धारण करने वाला तत्व है। यह तत्व (सत् सहित) अनादि एवं अनन्त है। जो सर्वथा असत् है वह तत्व नहीं हो सकता। सार, भाव या रहस्य को भी तत्व का पर्यायवाची कह सकते हैं परन्तु वास्तव में सद्भूत वस्तु को ही तत्व कहते हैं। तत्व नवीन पर्यायों की उत्पत्ति एवं पुरानी अवस्था का विनाश होने पर भी अपने स्वभाव का त्याग नहीं करता।

आध्यात्मिक दृष्टि से आत्मा ही मुख्य तत्व है जो पूर्ण एवं शुद्ध अवस्था में परमतत्व से विभूषित हो परमात्मा है और कर्मयुक्त होकर संसारी रूप में विविध योनियां धारण करता है।

तत्व को कई रूपों में वर्गीकृत एवं विभाजित किया जा सकता है– प्रथम शैली–(१) जीव (२) अजीव।

द्वितीय शैली–(१) जीव (२) अजीव (३) आश्रव (४) संवर (५) बंध (६) निर्जरा (७) मोक्ष। इसमें पुण्य और पाप इन दोनों को और जोड़ देने से नव तत्व बन जाता है।

तृतीय शैली–(१) जीव (२) अजीव (३) पुण्य (४) पाप (५) आश्रव (६) संवर (७) निर्जरा (८) बंध (९) मोक्ष।

उपरोक्त वर्गीकरण में भी जीव एवं अजीव मुख्य तत्व हैं जो अन्य तत्वों के आधार हैं। जीव पुद्गल (अजीव) के संयोग-वियोग से विविध जन्म धारण करते हुए निरन्तर आत्मनिष्ठ होकर विकास की ओर बढ़ता जाय तो परम और चरम तत्व मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। प्रथम शैली के विभाजन से यह संसार षटद्रव्यात्मक कहा जा सकता है :–

जीव	अजीव
(१)	(२)
	धर्मास्तिकाय
	अधर्मास्तिकाय
	आकाशास्तिकाय
	पुद्गलास्तिकाय
	काल

द्वितीय शैली में पुण्य एवं पाप को स्वतन्त्र तत्व न मान कर आत्मा अर्थात् जीव के आश्रित माना है। अत: तत्वों की संख्या सात ही रह जाती है। तृतीय शैली में तत्व नव माने गये हैं। इसमें से जीव एवं अजीव ये दो तत्व धर्मी हैं। अर्थात् आश्रव आदि तत्वों के आधार हैं। और शेष उनके धर्म हैं। इनको पुन:तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :–

ज्ञेय = जानने योग्य–जीव, अजीव। उपादेय = ग्रहण करने योग्य–संवर, निर्जरा, मोक्ष। हेय = त्याग करने योग्य–आश्रव, बंध, पुण्य, पाप। उक्त तत्वों का संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है :–

१. जीव : जीव का लक्षण उपयोग अर्थात् चेतना है। उपयोग के दो भेद हैं : (१) साकारोपयोग (ज्ञान) और (२) निराकारोपयोग (दर्शन) अत: जिसमें ज्ञान और दर्शन रूप उपयोग पाया जाय, वह जीव है।

जीव सुख-दु:ख और अनुकूलता-प्रतिकूलता की अनुभूति करने में सक्षम है। इसीलिए इसे चेतन कहा गया है। स्व पर का ज्ञान, विवेक आदि गुण अन्य पदार्थों में नहीं पाये जाते हैं। जीव को सत्व, प्राणी, भूत, आत्मा आदि शब्दों से भी जानते हैं।

स्थावर जीव एकेन्द्रिय होते हैं अत: उनके चर्म अर्थात् त्वचा रूप इन्द्रिय के अतिरिक्त इन्द्रियाँ नहीं होतीं। जो हमारी आँखों से दिखाई नहीं देते, वे सूक्ष्म हैं और जो हमें दृष्टिगोचर होते हैं, वे बादर हैं। जिनको आहार, शरीर, भाषा आदि पर्याप्तियाँ पूर्ण प्राप्त हों वे पर्याप्त और जिन्हें प्राप्त न हो सके वे अपर्याप्त कहलाते हैं :–

वनस्पतिकाय का विभाजन इस प्रकार है–

- सूक्ष्म
  - पर्याप्त
  - अपर्याप्त
- बादर
  - प्रत्येक
  - साधारण

प्रत्येक–एक शरीर में एक जीव हो।

साधारण–एक औदारिक शरीर में अनन्त जीव एक साथ जन्म लें, आहार लें और श्वासोच्छ्वास करें। इनके अनेक प्रकार हैं– जैसे प्याज, आलू, रतालू, गाजर, अदरख आदि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत्येक वनस्पति के बारह भेद हैं–

१. रुक्खा (वृक्ष) दो प्रकार के होते हैं—

(क) एगट्ठिया = एक गुठली वाले, जैसे–आम, नीम, जामुन, नारियल आदि।

(ख) बहुविया = बहुबीजी जैसे अमरूद, अनार, अंजीर, सीताफल आदि।

२. गुच्छा–बैगन, टींडोरी, तुलसी आदि।

३. गुम्मा (गुल्म)–गुलाब, जूही, चम्पा, मोगरा, मरवा आदि।

४. लया (लता)–पद्म लता, अशोकलता, नागलता।

५. वल्ली (वेल) तोरइ, तुम्बी, करेला, अंगूर।

६. पव्वगा (गांठ में बीज)–गन्ना, बेंत आदि।

७. तणा (तृण)–दूब, कुश।

८. वलया (गोलाकार)– तमाल, नारियल, खजूर।

९. हरिया (हरी, काम वाली शाक भाजी)–मेथी, पालक, बथुआ।

१०. जलरूहा (जल में उत्पन्न होने वाली वनस्पति)–उत्पल, कमल, पुंडरीक कमल, सिंघाड़ा।

१२. कुहणा = पृथ्वी को फोड़कर पैदा होनेवाली वनस्पति जैसे– भूंफोड़ा आदि।

द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के जीव त्रस कहलाते हैं। चूँकि ये जीव अपने हिताहित हेतु स्थान परिवर्तन करते हैं अत: गतिशील हैं और त्रस कहे जाते हैं। त्रस के भेद इस प्रकार हैं–

१. द्वीन्द्रिय–स्पर्श (शरीर) एवं रसन (जीभ) इन्द्रियों वाले जीव जैसे लट, शंख, जोंक आदि।

२. त्रीन्द्रिय–स्पर्श, रसन एवं घ्राण इन्द्रियों से युक्त जीव जैसे–जूं, लीख, कीड़ी, चींटी आदि।

३. चतुरीन्द्रिय–स्पर्श, रसन, घ्राण एवं चक्षु इन्द्रियों वाले जीव जैसे मक्खी, मच्छर, बिच्छू, भंवरा आदि।

४. पंचेन्द्रिय–स्पर्श, रसन, घ्राण, चक्षु एवं श्रोत्र इन पाँचों इन्द्रियों वाले जीव जैसे पशु-पक्षी, मनुष्य, नारक एवं देवता।

एकेन्द्रिय से चतुरीन्द्रिय तक के जीव (तिर्यंच) मन रहित होते हैं अत: असंज्ञी (अमनस्क) कहलाते हैं और पंचेन्द्रिय तिर्यंच मन वाले होने से संज्ञी कहलाते हैं। इसी प्रकार गर्भज मनुष्य, औपपातिकदेव और नारक जीव भी मन वाले होने के कारण संज्ञी कहलाते हैं।

तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीवों के पाँच प्रकार हैं–

१. **जलचर**–जल में रहने वाले जीव जैसे मछली, कछुए, मगर, ग्राह।

२. **स्थलचर**

(क) ठोसखुर वाले (एगखुरा) घोड़ा, गधा।

(ख) दो खुर वाले (बिखुरा) भैंस, बकरी, ऊँट।

(ग) कई खुर वाले (गंडीपया) हाथी।

(घ) सण्णफया = नख वाले पंजे जैसे सिंह, चीता, बिल्ली, कुत्ता।

३. **नभचर**–आकाश में उड़ने वाले।

(क) चर्मपक्षी–झिल्लीदार पंख। चिमगादड़, भारंड पक्षी।

(ख) रोमपक्षी–रोंए के पंख। चिड़िया, कबूतर, मोर, तोता, मैना।

(ग) समुग्ग पक्षी–डिब्बे की तरह बंद पंख वाले।

(घ) वितत पक्षी–सदा पंख खुले हुए।

समुग्ग पक्षी और वितत पक्षी अढाई द्वीप में नहीं होते हैं।

४. उर सरि सर्प (छाती के बल चलने वाली सर्प जाति)

(क) अहि (अ) फण करने वाले–आशी विष, उग्र विष आदि।
(आ) फण नहीं करने वाले–दिव्वागा, गोणसा।

(ख) निगल सकने वाले–अजगर।

(ग) असालिया–गाँव या नगर का नाश करने वाले।

(घ) महोरग (अढाई द्वीप के बाहर)।

(ङ) **भुजपरिसर्प**–भुजा से चलने वाले जैसे नेवला, चूहा, छिपकली आदि।

ज्ञातव्य है कि जैन दर्शन में जीवों का वैज्ञानिक और विस्तृत वर्गीकरण किया गया है। सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों में वनस्पति के बारे में वैज्ञानिक विश्लेषण के बाद आज सभी मानते हैं कि वनस्पति में भी जान है परन्तु शताब्दियों पूर्व पेड़-पौधों में चेतना बताकर प्रभु महावीर ने हमें अहिंसा का महत्व बताया था। इसी प्रकार नारक जीवों के भेद, मनुष्य व देवता के भी भेद बताकर जीव का स्वरूप बताया गया है।

अजीव–

अजीव को जड़ और अचेतन भी कहते हैं। जो चेतना रहित है और सुख-दुःख की अनुभूति नहीं करता, उसे अजीव कहते हैं। इनमें मूर्त और भौतिक पदार्थ जैसे चूना, चाँदी, सोना, ईंट आदि और अमूर्त तथा अभौतिक पदार्थ जैसे काल, धर्मास्तिकाय आदि का समावेश हो जाता है।

अजीव के पाँच भेद हैं–

१. **पुद्गल**–जो स्पर्श, गंध, रस एवं वर्ण से युक्त हों और पूरण तथा गलन पर्यायों से युक्त हों, पुद्गल हैं। परस्पर मिलना, बिखरना, सड़ना, गलना आदि पुद्गल की क्रियाएँ हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुद्गल के चार भेद हैं–

स्कन्ध–परस्पर बद्ध प्रदेशों का समुदाय।

देश–स्कन्ध का एक भाग।

प्रदेश–स्कन्ध या देश से मिला हुआ द्रव्य का सूक्ष्म भाग।

परमाणु–पुद्गल का सूक्ष्मतम अंश (परम+अणु) जिसका अन्य विभाग न किया जा सके।

अन्धकार, छाया, प्रकाश, शब्द आदि पुद्गल की अवस्थाएँ हैं। पुद्गल सदा गतिशील रहता है और जीव से मिलकर तदनुसार गति प्रदान करता है। पुद्गल के चार धर्म हैं, जिसके निम्न भेद हैं—

स्पर्श (८) मृदु, कठिन, गुरु, लधु, शीत, उष्ण, स्निग्ध एवं रुक्ष।

रस (५) तिक्त, कटु, अम्ल, मधुर, कषैला।

गंध (२) सुगन्ध, दुर्गन्ध।

वर्ण (५) नील, पीत, शुक्ल, कृष्ण, लोहित।

२. **धर्मास्तिकाय**–जीव और पुद्गल द्रव्यों को गति करने में सहायक द्रव्य को धर्मास्तिकाय कहा जाता है। यह गति का प्रेरक नहीं, सहायक तत्व है। जिस प्रकार मछली के लिए जल सहकारी है उसी प्रकार धर्मास्तिकाय है। इसके तीन भेद हैं स्कंध, देश और प्रदेश।

३. **अधर्मास्तिकाय**–जीव और पुद्गल को गतिशीलता से स्थिर होने या ठहरने में सहायक द्रव्य को अधर्मास्तिकाय कहते हैं। इसके भी तीन भेद हैं–स्कंध, देश और प्रदेश।

४. **आकाशास्तिकाय**–जो सब द्रव्यों को अवकाश या आकाश देता है। इसके दो भेद लोकाकाश और अलोकाकाश हैं। लोकाकाश में सभी द्रव्य हैं परन्तु अलोकाकाश में केवल आकाश द्रव्य है। इसको भी स्कंध, देश और प्रदेश में विभाजित किया जा सकता है।

५. **काल**–जो द्रव्यों की वर्तना (परिवर्तन) का सहायक है, उसे काल द्रव्य कहते हैं। नए, पुराने, बचपन, जवानी आदि की पहिचान काल द्रव्य से होती है। काल अस्ति (सत्ता) तो है परन्तु बहुप्रदेशी न होने के कारण 'काय' रहित है अर्थात् अप्रदेशी है।

जैनागमों में काल को विशेष रूप से निरूपित किया गया है। जहाँ आज संख्याएँ दस शंख तक मानी जाती हैं, जैन शास्त्रों में उससे बहुत आगे तक वर्णित हैं। काल की सूक्ष्मतम इकाई 'समय' को माना गया है और आँख झपकने में असंख्यात समय व्यतीत होते हैं। समय से लेकर वर्ष तक काल की निम्नलिखित पर्यायें हैं :–

(समय = सूक्ष्मतम इकाई)

४४४६	आवलिका	=	१ श्वासोच्छ्वास
७	श्वासोच्छ्वास	=	१ स्तोक
७	स्तोक	=	१ लव
७७	लव	=	१ मुहूर्त

(१, ६७, ७७, २१६ आवलिका = १ मुहूर्त)

३०	मुहूर्त	=	१ दिन रात
१५	दिन रात	=	१ पक्ष
२	पक्ष	=	१ माह
२	माह	=	१ ऋतु
३	ऋतुएँ	=	१ अयन
२	अयन	=	१ वर्ष

पुण्य

जो आत्मा को शुभ की ओर ले जाए, पवित्र करे और सुख प्राप्ति का सहायक हो, पुण्य है। पुण्य शुभ योग से बन्धता है। पुण्य का फल मधुर है। इसे बाँधना कठिन है और भोगना सहज है।

आत्मा की वृत्तियाँ अगणित हैं। अत: पुण्य-पाप के कारण भी अनेक हैं। शुभ प्रवृत्ति पुण्य का और अशुभ-प्रवृति पाप का कारण बनती है। पुण्य नौ प्रकार से बाँधा जाता है और ४२ प्रकार से भोगा जाता है।

पुण्य के नौ भेद

१. अन्न पुण्य — अन्न दान।
२. पान पुण्य — जल या पेय दान।
३. लयन पुण्य — स्थान या जगह देना।
४. शयन पुण्य — शय्या, पाट, पाटला देना।
५. वस्त्र पुण्य — वस्त्र दान।
६. मन पुण्य — शुभ चिन्तन, गुणी जन को देख प्रसन्नता एवं मन का शुभ योग प्रवर्तन।
७. वचन पुण्य — शुभ-हितकारी वचन, मधुर वचन।
८. काय पुण्य — शरीर द्वारा जीवों की सेवा आदि करना।
९. नमस्कार पुण्य — गुणीजनों, गुरुजनों आदि का विनय व नमन।

पुण्य कर्म भोगने की ४२ प्रकृतियाँ

वेदनीय के उदय से (१) साता वेदनीय = सुख
आयुकर्म के उदय से (३) देव-मनुष्य—तिर्यंच आयु
गौत्रकर्म के उदय से (१) उच्चगौत्र
नामकर्म के उदय से (३७)

गति/जाति (३) मनुष्य गति, देव गति व पंचेन्द्रिय जाति।

शरीर (५) औदारिक-औदारिक (उदर) शरीर मनुष्य, पशु-पक्षी आदि।

वैक्रिय–नानारूप शरीर बनाना– देवता, नारकी, जीव लब्धिधारी मनुष्य एवं तिर्यञ्च भी।

आहारक–शरीर में से शरीराकार सूक्ष्म शरीर निकालना।

तेजस–तपोबल से तेजोलेश्या निकालने की शक्ति।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कार्मण–अष्ट कर्मों के विकार से संबंधित शरीर।

ज्ञातव्य है कि तेजस और कार्मण शरीरों का सम्बन्ध आत्मा के साथ अनादिकाल से है और मोक्ष पाये बिना अलग नहीं होते।

अंग, उपांग, अंगोपांग (३) अंग–भुजा, पैर, सिर, पीठ आदि।

उपांग–अंगुली आदि।

अंगोपांग–अंगुलियों की पर्व रेखाएँ।

संहनन (१) वज्र ऋषभनाराच–विशेष आकार युक्त मजबूत अस्थि रचना।

संस्थान (१) सम-चतुरस्र–पर्यकासनवत् संस्थान युक्त शरीर शुभवर्ण, गन्ध रस स्पर्श, युक्त शरीर (४)

आनपूर्वी (२) देवानुपूर्वी–कर्मक्षय के अंतिम दौर में जीव को अन्यगति की ओर आकृष्ट होते हुए बचा कर देवगति में ले जाना।

मनुष्यानुपूर्वी–विग्रह गति के समय पुनः मनुष्य गति में खींचने वाले कर्म पुद्गल।

शुभ विहायोगति (१) हंस, हाथी, वृषभ की चाल।

त्रस दशक (१०) त्रस नाम, बादर नाम, पर्याप्त नाम, प्रत्येक नाम, स्थिर नाम, शुभ नाम, सुभग नाम, सुस्वर नाम, आदेय नाम एवं यशः कीर्ति नाम।

३१. अगुरुलघु ३२. पराघात नाम (अजेय पराक्रम) ३३. आतप नाम ३४. उद्योत नाम ३५. श्वासोच्छवास नाम ३६. निर्माण नाम ३७. तीर्थंकर नाम।

पाप–

जो आत्मा को पतन की ओर ले जाए, मलीन करे और जिसके कारण दुःख की प्राप्ति हो, पाप कहते हैं। अशुभ योगों से बन्ध कर पाप कटु फल प्रदायक हैं।

पाप उपार्जन के अठारह कारण हैं :–

१. प्राणातिपात–जीवों की हिंसा या उन्हें दुःख देना।
२. मृषावाद–असत्य भाषण।
३. अदत्तादान–स्वामी की आज्ञा बिना वस्तु लेना।
४. अब्रह्मचर्य–कुशील सेवन।
५. परिग्रह–धन लिप्सा ममत्व।
६. क्रोध–कोप एवं गुस्सा।
७. मान–अहंकार जिसके कारण चित्त की कोमलता और विनय लुप्त हो जाय।
८. माया–छल-कपट।
९. लोभ–तृष्णा, असंतोष।
१०. राग–माया और लोभ के कारण आसक्ति एवं मनोज्ञ वस्तु के प्रति स्नेह।
११. द्वेष–अमनोज्ञ वस्तु से द्वेष। क्रोध एवं मान के वश होकर द्वेष की जागृति।
१२. कलह–लड़ाई-झगड़ा।
१३. अभ्याख्यान–झूठा दोषारोपण।
१४. पैशुन्य–दोष प्रगटन, चुगली।
१५. परपरिवाद–दूसरों की बुराई एवं निन्दा करना।
१६. रति अरति–सावद्य पापयुक्त क्रियाओं में चित्त लगाना, रुचि एवं निरवद्य शुभ क्रियाओं के प्रति उदासीन, अरुचि भाव रहना।
१७. माया मृषावाद–कपट युक्त झूठ।
१८. मिथ्यादर्शन–कुदेव, कुगुरु, कुधर्म के प्रति श्रद्धा रखना।

पाप का बंधन १८ प्रकार से है तो इसके फल का भोग ८२ प्रकार से होता है।

आश्रव–

जीव रूपी तालाब में कर्म रूपी जल का आ + श्रव अर्थात् प्रवाह होता है। संसारी जीव में प्रतिक्षण मन, वचन, काय के परिस्पन्दन के कारण कर्म पुद्गल का एकीकरण होता है। इसका उदाहरण अनेक छिद्रों वाली नाव को पानी में डालना है। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग रूपी पाँच द्वारों से कर्म ग्रहण कर आत्मा मल युक्त होती है और तद्नुसार विविध जन्म धारण करती है।

मिथ्यात्व–विपरीत श्रद्धा अथवा तत्व ज्ञान का अभाव।

अविरति–त्याग के प्रति निरुत्साह एवं भोग के प्रति उत्साह।

प्रमाद–मद्य, विषय, निद्रा एवं विकथा युक्त आचरण।

कषाय–क्रोध, मान, माया, लोभ की वृत्तियाँ।

योग–मन, वचन, काया की शुभाशुभ प्रवृत्ति।

संवर–

अध्यात्म-साधना में संवर महत्वपूर्ण तत्त्व है। आत्मा को कर्म बन्धन से मुक्त करने के लिये सर्वप्रथम आश्रवों को रोकना आवश्यक है। जब तक आश्रवरूपी द्वार खुला रहेगा, तबतक पूर्व आबद्ध कर्म के साथ नये कर्मों का आना भी चालू रहेगा। यदि पूर्व-कर्म फल देकर आत्मा से पृथक हो भी जाय तो नव अर्जित कर्म अपना प्रभाव डालने को तैयार हो जायेंगे।

इसके मुख्य छः भेद हैं–समिति, गुप्ति, परीषह, यतिधर्म, भावना और चारित्र। समिति आदि वास्तविक संवर तभी बन सकते हैं जबकि वे जिनाज्ञापूर्वक हों। अतः संवर में सम्यक्त्व का समावेश हो ही जाता है। आश्रव का निरोध करना संवर है, अतः सम्यग्दर्शन से मिथ्यात्व आश्रव रुकता है। यति धर्म और चारित्र से अविरति आश्रव रुकता है। गुप्ति, भावना और यतिधर्म से कषाय आश्रव रुकता है। समिति, गुप्ति,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परीषह वगैरह से योग और प्रमाद आश्रव रुकता है। इस प्रकार संवर से आश्रव का निरोध होता है।

५ समिति–

प्रभु महावीर ने 'जयं चरे, जयं चिट्ठे' (यतनापूर्वक चलो...यतना पूर्वक बैठो...) के माध्यम से साधु को प्रत्येक प्रवृत्ति यतनापूर्वक करने का उपदेश दिया है। अत: विवेक एवं ज्ञानपूर्वक प्रवृत्ति करना ही 'समिति' है।

१. इर्यासमिति–जीवदया का ध्यान रखते हुए उपयोग पूर्वक चलना।

२. भाषासमिति–हित, मित, सत्य एवं प्रिय वाणी उपयोगपूर्वक बोलना।

३. एषणा समिति–विवेक-पूर्वक निरीक्षण कर, निर्दोष आहार-पानी, वस्त्रादि ग्रहण करना।

४. आदान-निक्षेपणा समिति–जीवदया का उपयोग रखते हुए वस्त्र पात्रादि को विवेकपूर्वक रखना एवं उठाना।

५. परिष्ठापनिका समिति–मल-मूत्र आदि को निर्जीव स्थान पर विवेकपूर्वक विसर्जन करना।

३ गुप्ति–

गुप्ति का अर्थ है गोपन करना...संयमन करना..नियमन करना।

१. मनोगुप्ति–अशुभ विचारों से मन को रोकना अर्थात् आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान न करना। धर्मध्यान, शुक्लध्यान में मन को जोड़ना।

२. वचनगुप्ति–दूषित वचन न बोलना। निर्दोषवचन भी बिना कारण नहीं बोलना।

३. कायगुप्ति–शारीरिक अशुभ प्रवृत्ति से बचना। निष्कारण शारीरिक क्रिया को रोकना।

१०. यतिधर्म :– (१) क्षमा (सहिष्णुता) (२) नम्रता (लघुता) (३) सरलता (४) निर्लोभता (५) तप (बाह्यअभ्यन्तर) (६) संयम (प्राणिदया व इन्द्रियनिग्रह) (७) सत्य (निरवद्य भाषा) (८) शोच (मानसिक पवित्रता) (९) अपरिग्रह किसी पर भी ममत्त्व न रखना (१०) ब्रह्मचर्य पूर्णरूप से पालन करना।

२२. परीषह– भूख-प्यास आदि से जन्य कष्ट को कर्म निर्जरा एवं संयम की दृढ़ता के लिये समतापूर्वक सहन करना परीषह है।

१-५ = भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी एवं मच्छर आदि से जन्य कष्ट को कर्मक्षय में सहायक व सत्ववर्धक मानकर समतापूर्वक सहन करना।

६. अचेलक = जीर्ण-शीर्ण, मल मलिन वस्त्र हो तो भी मन में खेद न करना। अच्छे वस्त्र की चाह न करना।

७. अरति–प्रतिकूलता आने पर भी विचलित न होना। किन्तु भावी कर्म-विपाक का विचार कर, 'प्रतिकूलता को सहन कर लेने में महान् लाभ है' यह सोचकर प्रतिकूलता को समभाव पूर्वक सहन कहना।

८.स्त्रीपरिषह–स्त्री को देखकर मन को विचलित न होने देना।

९. चर्यापरिषह–गाँव-गाँव विचरण करते हुए रास्ते में काँटे-कांकरे, खड्डे आदि से होने वाले कष्ट को सम्यक् सहन करना।

१०. निषद्या परिषह–श्मशानादि में कायोत्सर्ग आदि करते हुए यदि देव मानव सम्बन्धी उपद्रव हों तो उसे समतापूर्वक सहन करना।

११. शय्या परिषह–ऊँचे-नीचे आँगनवाला, धूलवाला, सर्दी-गर्मी के लिये प्रतिकूल उपाश्रय मिले फिर भी आकुल-व्याकुल न होना।

१२-१३ आक्रोश-वध–तिरस्कार करने, कटु शब्द बोलने अथवा प्रहार करने पर भी शान्त रहना।

१४. याचना–संयम के लिये उपयोगी वस्तु की याचना करते हुए शर्म या दीनता न होना।

१५. अलाभ–उपयोगी वस्तु माँगने पर भी यदि गृहस्थ न दे तो भी मन में रोष या शोक नहीं करना। किन्तु अपने अन्तराय कर्म का उदय है, ऐसा सोचकर शान्त रहना।

१६-१७-१८. रोग-तृणस्पर्श-मल-परीषह–रोग तृणादि के कठिन स्पर्श एवं मैल आने पर खेद न करना।

१९. सत्कार–सत्कार-सम्मान मिले तो खुश न होना, न मिले तो नाराज न होना।

२०-२१. प्रज्ञा-अज्ञान–अच्छी प्रज्ञा हो तो गर्व न करना। ज्ञान न आवे तो दीनता नहीं लाना।

२२. सम्यक्त्वपरीषह–अन्य धर्मों के मन्त्र-तन्त्र चमत्कार आदि को देखकर वीतराग-प्ररूपित धर्म से विचलित न होना किन्तु जैनधर्म में स्थिर रहना।

■

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org